एषणा दोषों के संबंध में एक चिन्तन

महाव्रती साधु-साध्वी अपने महाव्रतों की रक्षा के लिए आठ प्रवचन माता— 5 समिति एवं 3 गुप्ति का सविवेक पालन करते हैं। मन-वचन-काया को अशुभ से हटाना गुप्ति तथा शुभ में प्रवृत्त करना समिति है। गुप्तियां Negative विधि से साधना को संभालती हैं तो समितियां Positive विधि से साधना को अग्रसर करती हैं। यद्यपि सामान्य जनता में जैनधर्म की छवि निवृत्ति-प्रधान धर्म के रूप में है परन्तु जीवन की अनेकान्तात्मकता को स्वीकार करने वाला धर्म केवल निवृत्ति-प्रधान हो ही नहीं सकता। उसने प्रवृत्ति को भी पूर्ण मान्यता प्रदान की है। "शरीर यात्रापि च ते न प्रसज्येद कर्मणः" अकर्मण्य व्यक्ति तो अपनी जीवन यात्रा भी नहीं चला सकता। जैसे किसी भी वाहन के लिए एक्सीलेटर और ब्रेक दोनों आवश्यक हैं ऐसे ही साधना के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की आवश्यकता है। समिति चूंकि प्रवृत्यात्मक है अतः उसका क्षेत्र विशाल और विविध होना सुनिश्चित है। गुप्तियों की संख्या तीन है तो समितियां पांच हैं। इन पांचों का विस्तार भी बढ़ते-बढ़ते शत-सहस्र रूपों में अभिव्यक्ति पाने लगता है। पांचों समितियों में मध्यवर्ती 'एषणा समिति' शेष चार समितियों से अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि शेष चारों के पालन के लिए साधु-साध्वी को गृहस्थवर्ग पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। वे बहुलतया स्वयं की सावधानी से ही पल जाती हैं, जबकि एषणा समिति के सम्यक् पालन में उसे स्वयं से ज्यादा समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। शरीर है तो शरीर की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी चाहिए। और पूर्ति होगी बाहर से। **"सव्वं से जाइयं होई नत्थि किंचि अजाइयं"** मुनि के पास प्रत्येक छोटी-बड़ी चीज़ याचित होती है, अपने द्वारा अर्जित और

अधिकृत कोई चीज़ नहीं होती। स्थविर कल्प व्यवस्था में भोजन-पानी, वस्त्र-पात्र, शय्या (मकान), औषधि, चौकी-पट्टा आदि अनेक वस्तुएं याचित होती हैं। औघिक, औपग्रहिक उपकरणों की पूर्वकालीन संख्या से अधुनातन संख्या काफी विस्तृत हो गई है। पुस्तक, पैन, पन्ना, चश्मा, पुट्ठा आदि जुड़ते-जुड़ते नए उपकरण और भी जुड़े हैं तथा जुड़ेंगे।

जब हम एषणा समिति के 42 दोषों पर दृष्टिपात करते हैं तथा उनकी व्याख्याओं को पढ़ते हैं तो लगता है कि हमारा चिंतन केवल आहार-पानी में ही केन्द्रित हो गया है अन्य वस्तुओं की गवेषणा चिन्तन-केंद्र से स्खलित हो गई है। हमें इस दिशा में अपना Focus व्यापक बनाना होगा। दूसरा विचारणीय विषय इन 42 दोषों के वर्गीकरण का है। प्रायः कहा जाता है कि उद्गम दोषों का दायित्व दाता के अधीन है, उत्पादन दोषों का दायित्व ग्रहीता साधु पर, एषणा दोषों का दायित्व दाता-ग्रहीता दोनों पर। शायद यह वर्गीकरण भी अधिक तर्कसंगत नहीं है। गृहस्थ को दोष लगने की बात बड़ी अजीब है। वह बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे चलाता है तब भी उसे दोषी नहीं माना जाता, फिर साधु-साध्वी को जीवनोपयोगी सामग्री देने में उसे क्या दोष लगेगा। प्राचीन युग में तो बिल्कुल अज्ञात घरों में भी मुनियों का भिक्षार्थ गमन होता था, उन्हें जैन-मुनियों की आहारादि विधि का भी ज्ञान नहीं होता था, अतः वहां दोष लगने या न लगने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता था।

पूर्वकालीन भिक्षा पद्धति का एक पहलू आजकल सकल जैन संघ में विस्मृत हो चुका है। वह है रसोई से बाहर उचित दूरी पर खड़े होकर आहार आदि लेना। दशवैकालिक पंचम अध्ययन प्रथम उद्देशक की 20 से 31वीं गाथाओं के सम्यक् समालोचन से यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। अपरिचित घरों में साधु-साध्वी रसोई में प्रवेश से बचते थे। इस परम्परा को ध्यान में रखा जाए तो एषणा दोषों के स्पष्टीकरण में अनुकूलता रहती है। तथा वर्तमान व्यवस्थाओं को अतीत की व्यवस्थाओं से शत-प्रतिशत संगत मानने से

भी बचना होगा क्योंकि ये आवश्यक नहीं है कि पूर्व काल में जिस पद्धति से साधु-साध्वी दोष टालते थे वहीं पद्धति आज भी चालू है।

असूझता और संघट्टा ये दो मर्यादाएं शायद आगम कालीन नहीं है क्योंकि उस युग में मुनिवर्ग नगरों से बाहर उद्यानादि में रहते थे तथा एक बार ही भिक्षा के लिए जाते थे। बार-बार जाने के लिए न पर्याप्त समय बचता था, न दूरियां अनुमति देती थी। ये सारी चर्चा इसलिए हो रही है ताकि वक्ष्यमाण शब्दों को समझने में सुविधा रहे। सर्वप्रथम उद्गम दोषों की गाथा का वाचन कर लें। (16 उद्गम दोष)

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीस जाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे ॥
परियट्टिय अब्भिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इ य।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे॥

1. **आहाकम्म**– यथाकर्म। आधाकर्म शब्द इतना अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हो चुका है कि इसको विस्थापित करना लगभग असंभव सा प्रतीत होता है। परन्तु विस्थापित (Replace) किए बिना मूलभाव तक पहुंचना कठिन हो जाता है अतः इस जगह हम आहाकम्म को यथाकर्म कहकर आगे बढ़ेंगे। क्योंकि 'आधा' शब्द व्याकरण, कोष में उपलब्ध है ही नहीं, शायद देश्य रूप में भी उपलब्ध नहीं होता। 'आधा' केवल अर्ध का वाचक है न कि निमित्त आदि का बोधक। जबकि यथाकर्म शब्द बिल्कुल स्पष्ट अर्थ दे रहा है। जैसा भोजन-वस्त्र-भवन भिक्षु को अभिप्रेत है बिल्कुल वैसा ही बना करके दे देना यथाकर्म दोष कहलाता है। उदाहरणार्थः– भिक्षु को दस्त लगे हुए हैं तो उसकी तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार खिचड़ी आदि बनाना, सर्दी के मौसम को ध्यान में रखकर गर्म चीजें बनाना, ऊनी वस्त्र तैयार करना, निर्वात मकान बनाना तथा गर्मी को मद्देनज़र रखते हुए शीतल पेय तैयार करना, हवादार भवन का निर्माण करना यथाकर्म दोष है। इस दोष को टालने का लक्ष्य ये है कि गृहस्थ पर साधु की हर सुविधा

का बड़ा भार न रहे।

(2) **औद्देशिक**– दोष में सूचित किया है कि गृहस्थ स्वेच्छा से कोई वस्तु बनाता है मगर उसका ध्येय है– मुझे ये वस्तु सन्यासी महात्मा या भिक्षुओं को देनी है। उसने भोजन का भण्डारा (लंगर) लगवाया है, कुछ वस्त्र बनवाए, सिलाए हैं, कोई मकान तैयार किया है, कुछ पात्र निर्मित किए कराए हैं। वर्तमान काल में किसी को उसकी अपेक्षा है या नहीं, ये उस गृहस्थ को चिंता नहीं है, उसने अपनी दान-भावना पूरी करी है। इसलिए उसने सारा आरम्भ-समारम्भ किया है। जैन मुनि उस उद्देश्य से बनाए भोजन को भी सदोष मानते हुए नहीं लेता। यथाकर्म दोष तब जब साधु स्वनिमित्त से बनवाता है औद्देशिक तब जब गृहस्थ साधु के निमित्त बनाता है।

(3) **पूईकम्म**– इस शब्द की व्याख्या को पढ़े तो लगता है कि मिश्रजात तथा अध्यवपूरक तथा पूतिकर्म में कोई अन्तर नहीं है। एक ही दोष के तीन नाम रख दिए गए प्रतीत होते हैं। इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए इन शब्दों को पुनर्व्याख्यायित किया जाना जरूरी है। 'पूई' शब्द को पूर्ति न समझें। अपितु कोशकार ने पूति का अर्थ किया है 'दुर्गंध'। अर्थात् जिन भोज्य, पेय, प्रावरणीय वस्तुओं में सड़न बननी शुरू हो गई हो, Decomposition या Pollution की क्रिया प्रारम्भ हो गई हो तो वह वस्तु साधु-साध्वी न ले। क्योंकि ऐसी वस्तुओं के सेवन से सूक्ष्म जीव-हिंसा तथा रोगोत्पत्ति की संभावना बनी रहती है। किसी वस्तु के निर्माण से पूर्व यदि उसे सड़ाने की प्रक्रिया (पूतिकर्म) से गुजारा गया हो, उसे लेने में भी दोष परिगणित किया है। पूतिकर्म से निष्पन्न वस्तुएं साधु-साध्वी के निमित्त से तैयार नहीं की होती, गृहस्थ ने अपने प्रयोग में लाने के लिए बनाई है पर साधु-साध्वी के लिए तदपि वर्जनीय है।

(4) **मिश्रजात**– वस्तुएं वे हैं जिन्हें गृहस्थ अपने शौक, स्वाद या अपेक्षा को ध्यान में रखकर बनाता है पर सचित्त-अचित्त की मिश्रता है, भक्ष्य-अभक्ष्य की मिश्रता है, उन्हें लेना दोष है। ऐसे केक, बिस्कुट

आदि जिनमें अभक्ष्य तत्त्व सम्मिलित हैं, ऐसे वस्त्र जिनमें सूती रेशमी का मेल है, ऐसे पात्र जो धातु और लकड़ी के संयोग से बने हैं, लोहे के कड़े वाले पात्र मिश्रजात कहला सकते हैं। ऐसे मिश्रजात पदार्थों का ग्रहण मुनि के लिए निषिद्ध किया है।

(5) **स्थापना**– दोष के अन्तर्गत वे वस्तुएं गिनी जाएंगी जिन्हें गृहस्थ ने अपने लिए प्रयुज्यमान में से कुछ अंश रूप से निकालकर पृथक् स्थापित कर दिया है। वह स्थापित वस्तु किसी विशिष्ट मुनि के लिए भी निर्धारित हो सकती है या सामान्य भिक्षु याचक मात्र के लिए भी हो सकती है। अन्य को अन्तराय न पड़े तथा स्वयं के लिए गृहस्थ अधिक झंझट न उठाए इसलिए स्थापना कृत वस्तुएं निषिद्ध की गई है।

प्राचीन साहित्य में स्थापना कुलों का उल्लेख मिलता है जहां से वृद्ध, ग्लान मुनियों के लिए भोजनादि सामग्री लाई जाती थी। उन घरों में सामान्य मुनि आहारार्थ नहीं जाते थे। उन्हें पृथक् रूप से स्थापित कर दिया जाता है। उन घरों से सामान्य मुनि-साध्वी ले आएंगे तो वृद्ध-ग्लान आदि को अंतराय संभावित है अतः उन घरों से आहार आदि लाना स्थापना दोष बन सकता है। उन स्थापना कुलों में वृद्ध-ग्लान के लिए सोद्देश्य चीज़ें नहीं बनाई जाती बल्कि वहां वे चीज़ें सहज तथा बनती ही हैं, उन्हें लाने की मनाही इस दोष से की है।

(6) **प्राभृतिका**– कोशानुसार 'प्राभृत' शब्द उपहार का बोधक है। Gift के रूप में वस्तु देना प्राभृतिका दोष है। किसी मांगलिक अवसर पर गृहस्थ घर में आने वालों को उपहार वितरित कर रहा हो, पुत्र जन्मोत्सव, विवाह-प्रसंग, विदेश प्रत्यागमन आदि प्रसंग पर जब वह घर पर आने वाले हर मेहमान को वस्त्र, मिष्ठान्न का डिब्बा या अन्य सौगात दे रहा हो उन वस्तुओं को जैन साधु-साध्वी नहीं ले क्योंकि वह साधारण भिक्षु के रूप में उस घर में गया है न कि मेहमान के रूप में। दूसरी बात उपहृत वस्तुएं प्रायः डिब्बा बन्द भी होती हैं उनमें उस मुनि के लिए कौन-सी उपयोगी हो कौन-सी अनुपयोगी, कोई

कल्पनीय हो, कोई न भी हो तो समस्या बनेगी। जबकि उपहार तो ज्यों का त्यों लिया-दिया जाता है, न कि इच्छानुसार कुछ लिया, शेष छोड़ दिया। इन उलझनों से बचने का सर्वोत्तम उपाय हे कि प्राभृतिका वस्तु लेनी ही नहीं।

(7) **पाओयर**– शब्द की संस्कृत छाया पारम्परिक रूप से प्रादुष्करण की जाती है। प्राकृत के बहुत से शब्द संस्कृत के माध्यम के बिना अपना अर्थ बताने में असमर्थ हो गए थे, तब पूर्ववर्ती लेखकों ने किसी भी समीपवर्ती संस्कृत शब्द को Fit कर दिया, संभवतः पाओअर के साथ भी ऐसा ही हुआ है। किसी अन्य सुंदर शब्द की उपलब्धि तक इसी प्रादुष्करण को स्वीकार करना चाहिए। रोशनी के कृत्रिम साधनों की सहायता लेकर देय सामग्री देना प्रादुष्करण दोष है।

(8) **क्रीत**– वस्तुएं भोजन तक ही सीमित न रहें। वस्त्र, पात्र, पुस्तकें, औषधि, उपचार के अन्यान्य उपकरण भी क्रीत दोष के अन्तर्गत आते हैं। साधु-साध्वी के निमित्त से कोई चीज़ बनाने में जो आरंभ-समारंभ प्रकट रूप से दिखाई पड़ता है, खरीदने में वह भले ही प्रत्यक्ष दिखाई न पड़े मगर धन का अधिक व्यय होने से गृहस्थ पर भार अधिक पड़ता है। जबकि जैन मुनि की जीवनचर्या निर्भारता रूप होती है। आधुनिक युग में साधु-साध्वी सेवा फण्ड तैयार होने की मुहिम चल रही है, इसी तरह उनके उपचार के लिए Mediclaim की तर्ज पर व्यवस्थाएं की जा रही हैं। ये सब क्रीतदोष की धारणा को अपदस्थ कर रही है।

(9)–(10) **प्रमित्य या प्रामित्य और परिवर्तित**– शब्द उधार अर्थ का बोधक किस आधार पर माना जाता है? धातु-प्रत्यय आदि की स्पष्टता नहीं बनती। अतः अर्थान्तर कल्पना की जा सकती है– प्र-प्रकर्षेण, आ समन्तात् मीयते यत् तद् प्रामित्यम्। जिस वस्तु को नाप-तोलकर दिया जाय वह प्रामित्य। 50 ग्राम, 100 ग्राम के हिसाब से दिया गया पदार्थ साधु की गरिमा का विरोधी है, अतः अग्राह्य है।

उधार या अदला-बदली करके दी जाने वाली वस्तुएं संभवतः हिंसा

की दृष्टि से निर्दोष हों पर वे भी प्रकारान्तर से क्रीत दोष युक्त प्रतीत होती हैं। इन दोनों दोषों से बचने के पीछे भाव ये है कि गृहत्यागी भिक्षु के भरण-पोषण, सेवा-शुश्रुषा का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं होता अपितु हर श्रद्धाशील मानव का है। तथा मुनि भी किसी एक व्यक्ति पर या वर्ग विशेष पर निर्भर नहीं रहना चाहता। उसकी आवश्यकताएं तो अल्प ही होती हैं तथा उनकी पूर्ति न हो तो वह आर्तिग्रस्त, खिन्न भी नहीं होता और अनिवार्यता ही हो तो वह मूल स्वामी से ही मांग कर अपनी पूर्ति करता है। उधार की वापसी तथा बदले के झंझटों से वह स्वयं को मुक्त रखता है तथा गृहस्थ को भी मुक्त रखता है।

(11) **अभिहृत**– साधु के निवास स्थल पर लाकर दी हुई वस्तु को ग्रहण करना दोष रूप है। भिक्षाचर्या की सुरक्षा के लिए इस दोष को सावधानी से टालना जरूरी है। यद्यपि इस दोष को आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, औषधि, पुस्तक आदि प्रत्येक वस्तु के साथ जोड़ा जा सकता है। परन्तु आहार-पानी, वस्त्र तक भी सीमा बनी रहे तो भी काफी बचाव संभव है। पुस्तक आदि पाठ्य सामग्री कोई श्रावक-श्राविका बिना खरीदे लाकर दे तो अधिक नुक्ताचीनी न माने। जिस प्रकार धर्म स्थानों के पुस्तकालयों से पुस्तकें तो ली जा सकती हैं पर धर्म स्थानों में रखे या बनने वाले भोजन पानी नहीं लिए जा सकते। यही न्याय अभिहृत दोष को लेकर भोजन एवं पाठ्य सामग्री विषयक समझा जाए तो अच्छा है। जहां तक औषधि आदि का प्रश्न है वह एक आपवादिक स्थिति में ही ली जाती है। अतः उनके संबंध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

(12) **उद्भिन्न**– अर्थात् फोड़कर, उखाड़कर वस्तु देना। प्राचीन काल में कुछ खाद्य पदार्थ एक मौसम में तैयार किए जाते थे तथा अन्य मौसम में प्रयोग किए जाते थे। उदाहरणार्थ गर्मी के मौसम में आम आदि का अचार डालकर कुछ माह बाद उसको सुरक्षित रखकर बाद में प्रयोग किया जाता था। सर्दी में राब, गुड़ आदि को Pack करके

गर्मी में बरता जाता था। सुरक्षित रखने के लिए उन्हें बर्तनों में भरकर बर्तनों को किसी लेप से Seal बन्द कर दिया जाता था तथा मौसम आने पर ही खोला जाता था। ऐसे सुरक्षित रखी हुई वस्तुएं मौसम से पहले या मौसम पर भी साधु-साध्वी को लक्ष्य करके न खोली जाएं, क्योंकि उस प्रक्रिया में काफी आरम्भ-समारम्भ तथा झंझट झमेले होते हैं अतः मुनि टले तो अच्छा है। पूर्वकर्म पश्चात् कर्म दोषों का बचाव भी तभी होगा।

(13) **मालापहृत**– दोष की विस्तृत व्याख्या दशवैकालिक प्रथम उद्देशक गाथा 67, 68, 69 में उपलब्ध है। जहां चढ़ने में असुविधा हो, सीढ़ी कील आदि का सहारा लेकर चढ़ना पड़े, ऐसे स्थान से उतार कर दी जाने वाली वस्तु इसलिए अग्राह्य है क्योंकि चढ़ने-उतरने की प्रक्रिया में किसी के गिरने, चोट लगने का खतरा रहता है। साधु-साध्वी अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु की सुरक्षा को खतरे में नहीं डालता।

इस दोष के चिन्तन का अवान्तर अर्थ ये तो निकल सकता है कि जिस स्थान पर चढ़ने उतरने में गिरने की संभावना न हो, उस स्थान से वस्तु लाई जाए तो निषिद्ध नहीं रहेगी। प्रारंभ में लिखा था कि किसी युग में साधु-साध्वी रसोई से दूर खड़ा रहकर भी भिक्षा लेता था, ऐसे में उसे दोष नहीं माना जाए। माला (मंजिलों की पंक्ति)शब्द ऊंचे स्थान के लिए प्रयुक्त होता था आजकल गुजरात, मुम्बई आदि प्रान्तों में मकान या Flat दूसरी मंजिल, तीसरी मंजिल के लिए दूसरा माला, तीसरा माला शब्द व्यवहृत होता है।

(14) **आच्छेद्य**– शब्द कृत्य (यत्) प्रत्ययान्त शब्द है न कि ल्यबन्त। जबकि व्याख्याकार इसे प्रायः ल्यबन्त रूप में प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत भाषा में ल्यबन्त रूप आच्छिद्य बनता है ना कि आच्छेद्य। हां, कृत्य प्रत्ययान्त आच्छेद्य बनता है। इस आधार पर आच्छेद्य का अर्थ बनता है– ऐसी वस्तु नहीं लेनी जो छीनने योग्य हो। जिसे कोई छीनने का प्रयास करे, ऐसे बहुमूल्य, खूबसूरत वस्त्र पात्रादि किसी दाता द्वारा

दिए जाएं तो मुनिवर्ग न ले। भोजनादि छीनने की संभावना तो किसी दुर्भिक्ष आदि काल में संभव है। बहुमूल्य वस्तु का छीनना कभी भी संभव है। हां, यदि बालक आदि से छीनकर कोई वस्तु दी जाए और बालक रोने लगे तो भी अनुचित है। ये भी नहीं करना।

(15) **अनिसृष्ट**– शब्द को प्राचीन व्याख्याकारों ने काफी विस्तार दिया है, उनके अनुसार जिस सामान का स्वामित्व निर्धारित नहीं हुआ है, स्वामी के अधीन वह वस्तु नहीं है, उससे पूर्व उस वस्तु को लेना अनिसृष्ट दोष है। यथा– किसी परिवार के 4-5 चूल्हे हैं सबका दूध-कपड़ा आदि एक ही आदमी ले आता है और आकर यथाभाग रसोइयों में पहुंचा देता है। उस वितरण से पूर्व यदि लाने वाला व्यक्ति साधु-साध्वी को बहराना चाहे और साधु-साध्वी को स्थिति का ज्ञान हो तो वह न ले। लेने से आपसी विवादों की संभावना हो सकती है अतः साधु बचे।

(16) **अज्झोयर**– शब्द को अध्यवपूरक के रूप में अनूदित किया गया है। लेकिन व्याकरण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नज़र आता है। इसे 'अध्यवतर' 'अध्यवतार' कहें तो कहीं हम मूल तक पहुंच सकते हैं। जैसा मालापहृत में ऊपर चढ़ने में गिरने का डर हो तो वर्जनीय माना है ऐसे ही अध्यवतर में किसी निचली जगह पर जहां सामान्यतः उतरने पर गिरने-चोट लगने की संभावना हो उस स्थान से लाई गई वस्तु लेने का निषेध है। अधि + अवतरण-अधोऽवतरण दोनों का एक अर्थ है। इस शब्द और अर्थ की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आगमों में ऐसा उल्लेख भी है कि कुसूल आदि ऊंचे-ऊंचे पात्रों में कभी अन्न तथा कभी अन्य उपयोगी वस्तु रखी जाती थी वहां उतरकर सामान बाहर निकाला जाता था। उस स्थान से निकालने की स्थिति में साधु-साध्वी के लिए वह वस्तु वर्जित होनी चाहिए। हां, प्रचलित अर्थ भी मान्य करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि उस अर्थ के अनुसार शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों का मिश्रण होने से वस्तु अग्राह्य हो जाती है।

ये उद्गम संबंधी 16 दोष गृह्यमाण वस्तु की सदोषता की

सूचना देते हैं जबकि अग्रिम उत्पादना के 16 दोष भिक्षा ग्रहण करने वाले मुनि की सोच व आचरण से संबंधित हैं। गृहस्थ से अपनी आवश्यकताएं पूरी कराने का अधिकार उसी साधक को है जो आत्म-साधना में तल्लीन है। वह अपनी देहयात्रा के लिए न समाज पर भार डालता है और न ही समाज के भौतिक कार्य-कलाप से स्वयं को संलिप्त करता है। लगता है कि कुछ सरल प्रकृति के साधक मन में ये सोच लेते हों कि जिन घरों से हम अपने जीवन संचालन की सामग्री ग्रहण करते हैं उनके कुछ कार्य कर दें तो ऋण चुका दिया जाएगा। उन्हें ये ध्यान नहीं रहता कि मुनि इस ऋणोत्तारण की प्रक्रिया में उलझता-उलझता गृहस्थता के स्तर तक पहुंच सकता है और कभी-कभी तो बिल्कुल पाप के गर्त में भी गिर सकता है। वह उस धर्म का अधिकारी है जहां न किसी पर भार डाला जाता, न भार उतारा जाता। इस पृष्ठभूमि के साथ उत्पादना दोषों की समझ बढ़ानी है।

(16 उत्पादना दोष)

धाई दूई निमित्ते य आजीव वणीमगे तिगिच्छे य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस ए ए॥
पुव्विं पच्छा संथव विज्जामंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य॥

(1) **धात्री**– बाल बच्चों को खिलाने, लाड़ प्यार करने की प्रवृत्ति वाले साधु-साध्वी गृहस्थों से निकटता तो बना लेते हैं तथा उस निकटता के कारण उनकी सेवा भी पर्याप्त हो सकती है मगर वह सेवा साधना को स्तरहीन बना देती है।

(2) **दूई**– साधु-साध्वी भ्रमणशील होते थे, प्राचीन युग में गृहस्थ के पास संदेश प्रेषण के साधन अल्प होते थे, ऐसी स्थिति में यायावर साधु-साध्वी संदेश वाहकता का भार अपने ऊपर ले सकते थे, उन्हें उस प्रवृत्ति से रोकने हेतु इसे दोष रूप में गिन दिया। ऐसा न हो कि

जिस घर में वह संदेश देने गया वहीं की सेवा लेने लग जाए।

(3) **निमित्त**– भारतीय जनमानस में एक धारणा दृढ़मूल रही है कि संत महात्मा नैमित्तिक अर्थात् भविष्य वक्ता होते हैं। जैन मुनि से भी वे ऐसी अपेक्षा रखते हैं कि ये हमारी व्यक्तिगत या सार्वजनिक समस्याओं को लेकर कुछ घोषणा करें। यदि मुनि ऐसे आकर्षण में आ जाता है तो असत्य भाषण का अपराधी हो सकता है। यदि संयोग वशात् उसका कथन सत्य हो जाता है तो उसकी भरपूर सेवा होने की संभावना बनती है। ऐसी सेवा प्रायः कर सावद्य ही होगी। अतः साधु-साध्वी सावधान रहकर इस जाल से बचता चले।

(4) **आजीविका**– शब्द को कुल और जाति के रूप में ढालने से शब्द के साथ अन्याय सा हो रहा है। ये शब्द इतना स्पष्ट है कि इसका भाव समझने में दुविधा ही नहीं है। गृहस्थों को आजीविका अर्जन उपायों को बताना विशेष कारोबार की लाभ-हानियां समझाना या कमाने की कला देना आजीविका दोष है। गृहस्थ तो इस उपकार के लिए आभारी होंगे, पर्याप्त सेवा के लिए आतुर भी होंगे, मगर जिस गार्हस्थ्य प्रपंचों को छोड़ा है, वे प्रपंच पुनः मुनि को घेर लेंगे, अतः इस प्रपंच से बचना अत्यन्त आवश्यक है।

(5) **वनीपक**– साधु भिक्षुक-भिक्षाजीवी होता है पर वनीपक नहीं। वह कारण पड़ने पर आहार-वस्त्र पात्र आदि लेने जाता है। संभव हो तो तृतीय प्रहर में, अन्यथा उचित समय पर गृहस्थों के घर जाकर, अनुद्विग्न, अनुन्नत, अनवनत, अप्रहृष्ट, अनाकुल भाव से स्वावश्यकता मात्र पदार्थ लेता है। जबकि वनीपक निष्कारण हर समय दीनतापूर्वक याचना करता है। साधु एक संघ और तीर्थ का प्रतिनिधि भी होता है, संघ-तीर्थ की गरिमा को गिरने नहीं देता, जबकि वनीपक का कोई संघ शासन नहीं, न वह किसी का। अतः आवश्यकता पूर्ति के लिए याचना करते हुए भी अपने स्तर का ध्यान रखना चाहिए।

(6) **चिकित्सा**– जैन मुनि अपने साधनामय जीवन से तथा त्याग-प्रधान उपदेशों से मानसिक द्वन्द्वों का भवरोगों का उपचार तो

करता है पर शारीरिक चिकित्सा का दायित्व वह वैद्यों पर छोड़ देता है। अपने शरीर की व्याधि के लिए भी वह या तो सहिष्णुता को अपनाता है या वैद्यों की सेवा लेता है। गृहस्थों की चिकित्सा के संबंध में वह तटस्थता अपनाता है। वह रोग, निदान, उपचार का ज्ञाता नहीं होता, मगर भद्र जनता उससे अपेक्षा रखती है कि यदि ऐसे साधक महात्मा के हाथों से दवाई मिल जाए तो सस्ते में शीघ्र उपचार हो सकता है। किसी के कष्ट निवारण की सद्भावना से प्रेरित होकर संत भी इस दिशा में कदम बढ़ाने को उत्सुक हो सकता है। अतः भगवन्तों ने इस कार्य को असाधूचित करार कर दिया। चिकित्सा सावद्य भी हो सकती है तथा वैद्यक शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के अभाव में किया गया उपचार घातक भी हो सकता है। अतः साधु के लिए यह कार्य वर्जित किया है, ऐसा कार्य करने वाले साधु को जीवनोपयोगी साधन मिलने अधिक सहज होते है, उन साधनों का ग्रहण भी दोष रूप ही है।

(7.-8.-9.-10.) साधु-साध्वी के लिए कषायों का उभार कदापि शोभा नहीं देता यदि वे कषाय हावी हैं तो वह साधु-साध्वी अभी साधुत्व के अयोग्य है। अतः वह भिक्षाग्रहण का अधिकारी नहीं हैं यदि ये कषाय करके कोई अपना जीवन चलाता है तो उसकी हर क्रिया भिक्षाचर्या सहित-दोषमय है।

(11) **पूर्वपश्चात् संस्तव**– एक गृहत्यागी अणगार अपने घरेलू रिश्तों, परिचयों, बंधुओं को छोड़कर आत्म-रमण की ओर अग्रसर होता है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर दीक्षित होने के बाद नए परिचय नहीं बनाता, रिश्ते नहीं जोड़ता, भाईचारा नहीं बढ़ाता। यदि पुराने परिचयों को कायम रखता है तथा नए परिचयों का जाल और बुन लेता है तो उसका साधुत्व भार रूप ही बन जाता है। ऐसे अणगार को भिक्षावृत्ति की आवश्यकता नहीं है, उसे तो अपने रिश्तेदारों का ही सहारा है, यदि पूर्व पश्चात् संस्तव के माध्यम से वह जीवन-यापन के साधन जुटाता है तो उसका हर साधन दोषग्रस्त है। (संस्तव शब्द का वर्तमान संदर्भ में अर्थ स्तुति की बजाय परिचय है)।

(12.-13.) **विद्या और मंत्र**– जनसामान्य विविध समस्याओं से ग्रस्त रहता है। वह चाहता है कि किसी भी सरल उपाय से समस्या से मुक्त हो जाऊं। अनेकानेक धर्म गुरुओं के प्रचार एवं व्यवहार से एक धारणा उनके मानस में दृढ़मूल हो गई है कि संत-महात्मा कोई पाठ कर दें या बता दें तो समस्या समाहित हो जाती है। यदि जैन संत इस प्रकार के मिथ्या आश्वासन या झांसे देकर लोगों को भ्रान्ति में डालता है तो वह अपने साधुत्व को खण्डित करता है। और वह साधु के रूप में किसी के घर से आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि की याचना का अधिकार ही नहीं रखता। विद्या मंत्र करने वाले साधु द्वारा गृहीत हर वस्तु सदोष है। विद्या और मंत्र यद्यपि जाप की दृष्टि से तो समान है पर इनका भेद इतना ही है कि जिस जाप-पाठ की अधिष्ठात्री 'देवी' है वह पाठ 'विद्या' है तथा जिस जाप का अधिष्ठाता 'देव' है वह मंत्र है।

(14.-15.-16.) **चूर्ण, योग, मूलकर्म**– मंत्र और तंत्र का भारत में बोलबाला रहा है। दोनों में मंत्र अहिंसक और तंत्र हिंसक के रूप में मान्य हुआ। मंत्र केवल जाप-पाठ आधारित होता था जबकि तंत्र में कुछ क्रियाएं, अनुष्ठान, वस्तुएं सम्मिलित होती थी। चूर्ण, योग तथा मूलकर्म ये तीनों तंत्र के अन्तर्गत आते हैं। जैन साधु-साध्वी पाठ-जाप जैसी निर्दोष पद्धति को नहीं अपना सकता, फिर उसे आरम्भ-समारम्भ वर्धक तंत्र की अनुमति किस तरह मिल सकती है। तंत्र प्रक्रिया से जीवन यात्रा चलाने वाला साधु-साध्वी भगवान की नज़रों में अयोग्य है तथा उसके द्वारा गृह्यमाण हर चीज सदोष है। चूर्ण तंत्र में राख की चुटकी से लेकर वासक्षेप जैसे भिन्न-भिन्न पदार्थों का प्रयोग होता है तथा जैन मुनि के लिए वर्जित है। योग का यहां अभिप्राय शारीरिक व्यायाम, श्वासोच्छ्वास नियमन न होकर विविध प्रकार के पदार्थों का मिश्रण करके किसी को खिलाना, कहीं डालना आदि है, यथा– नींबू मिर्च बांधना, यज्ञ सामग्री को मिलाकर हवन करवाना, सिंदूर चूड़ी आदि को किसी के दरवाजे आदि पर डालना है। ऐसे कामों को आधुनिक भाषा में 'काला इल्म' कहा जाता है। इन सब पर प्रतिबंध आवश्यक है।

मूलकर्म सबसे निकृष्ट तंत्र माना जाता है। यद्यपि ये मानव की कल्पना मात्र है कि चूर्ण, योग या मूलकर्म से किसी का नुक्सान किया जा सकता है। परन्तु इस कर्म से किसी का नुकसान हो न हो पर करने और कराने की प्रेरणा देने वाले तांत्रिक का कर्मबंध तो होगा ही। मूलकर्म के द्वारा किसी नारी के गर्भ को बांधने, गिराने या ठहराने की मान्यता रही है। इस दुष्टतापूर्ण कार्य में संलिप्त व्यक्ति साधु कहलाने का अधिकारी नहीं है। उसके द्वारा लिया गया भोजन का एक कण भी दोषपूर्ण है।

ग्रहीता के दोषों के पश्चात् दान-ग्रहण की विधि के दोष एषणा दोष कहलाते हैं। लेते समय साधु को किन-किन बातों के प्रति सावधानी रखनी चाहिए वे दस बातें वर्णित है। इन दस बातों की उपेक्षा हो तो विधि दोषपूर्ण हो जाती है। इनके नाम–

(10 एषणा दोष)

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मिस्से।
अपरिणय लित्त छड्डिए एसणा दोसा दस हवन्ति॥

एषणा के दस दोषों के संबंध में गृहस्थ और साधु दोनों को उत्तरदायी ठहराने की चर्चा बुद्धिगम्य नहीं लगती। गृहस्थ को जैन साधु की चर्या का ज्ञान होना कैसे संभव था, क्योंकि प्राचीन काल में तो प्रायः अज्ञात घरों की गोचरी होती थी, अतः एषणा के दोषों को टालने की सारी जिम्मेदारी साधु-साध्वी की ही है। भगवान महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्वयं के प्रति जागरूक रहने की प्रेरणा दी है। गृहस्थ उसके दोषों का निवारक बने ऐसा दृष्टिकोण आगमकारों का नहीं था। एषणा दोष सीधे तौर पर विधि से संबंधित प्रतीत होते है।

(1) **शंकित**– इस दोष का उल्लेख दशवैकालिक 5.1.44 में साक्षात् किया है "जं भवे भत्तपाणं तु कप्पाकप्पम्मि संकियं, दिंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं" यदि साधु-साध्वी को किसी

भोजन-पानी की कल्पनीयता-अकल्पनीयता के विषय में शंका हो (स्पष्टता न हो) तो देने वाली बहन को लेने से मना कर दे। किसी नवीन इलाके मे कोई वस्तु उपलब्ध होती हो और साधु उस वस्तु के विषय में अनभिज्ञ हो तो शंका होना स्वाभाविक है अतः ऐसी स्थिति में लेना भी एक प्रकार से सदोष ही है। संभव है कि वह वस्तु कल्पनीय भी हो पर मुनि को उसकी कल्पनीयता के संबंध में निश्चय तो नहीं है अतः वह एक Risk ले रहा है। ये भी हो सकता है कि वह वस्तु उसके शरीर, शील के अनुकूल न पड़े। ये भी हो सकता है कि अन्य मुनि उसे न ले, अतः संदेह की स्थिति में छोड़ना निर्दोषता है, लेना सदोषता।

(2) **म्रक्षित**– सचित्त जल से आर्द्र हाथ-पात्र आदि से दिए जाने वाले पदार्थ का ग्रहण। ये अर्थ म्रक्षण से सिद्ध नहीं हो रहा है। म्रक्षण का अर्थ मक्खन, चिकनाई है। अतिमात्रा में स्नेह जिस पदार्थ में पड़ा हो वह वस्तु दुष्पाच्य भी होती है तथा विकार वर्धक भी। उस चिकनी वस्तु से स्निग्ध पात्रादि की सफाई भी कठिन होती है एवं देते-लेते समय कोई छींटा जमीन पर गिर जाए तो जीव-जन्तुओं के आने की, विराधना की संभावना रहती है अतः म्रक्षित वस्तु न ले। दूसरा भाव ये हो सकता है कि रोटी या अन्य कोई खाद्य पदार्थ बहराते समय चुपड़ा जाए तो न लिया जाए।

(3.-4.) **निक्षिप्त-पिहित**– गृह्यमाण वस्तु कहां रखी है तथा उस पर क्या रखा हुआ है, ये बिना देखे वस्तु नहीं लेनी। दोनों को अनदेखा करना हानिकारक हो सकता है। सचित्त पानी, हरी के अलावा कई बार कीड़ी आदि लघु जीवों वाली वस्तु के संपर्क वाला खाद्य पदार्थ लिया जाए तो महान् हानिकारक हो सकता है विशेषतः स्वास्थ्य के लिए।

(5.) **संहृत**– (साहरिय) इसी तरह किस जगह से किस पात्र से वह वस्तु निकाली गई है (या सामने निकाली जा रही है) इस प्रकार की देखभाल भी कई बार आवश्यक होती है। यद्यपि इतनी सूक्ष्मेक्षिका या पूछताछ अटपटी और अनुचित भी प्रतीत हो सकती है पर कभी-कभी

आवश्यक है। ताकि रोगवर्धक वस्तु का ग्रहण न हो।

(6.) **दायक**– साधु को देने वाले दाता-दात्री की भावना का सम्मान तो करना है पर उसकी शारीरिक स्थिति का भी पूरा जायज़ा ले लेना चाहिए। एक अस्वस्थ व्यक्ति को उठकर देने में कष्ट होता हो, गर्भवती बहन को उठने-बैठने में असुविधा हो, अपंग Disabled को तकलीफ होती हो तो भोजन या अन्य वस्तु न ले। ऐसे ही दाता अत्यधिक निर्धन हो किसी वस्तु वस्त्र-पात्र आदि देने की भावना के बावजूद उसका सामर्थ्य पर्याप्त न दिखता हो तो भी लेने से बचाव रखना अच्छा है। कभी साधु-साध्वी को महसूस हो कि दाता की आन्तरिक भावना नहीं है तो उसे लज्जित किए बिना समझदारी के साथ विदाई ले ले। ऐसा प्रसंग मकान (शय्या) आदि देने के अवसर पर आने की संभावना अधिक रहती है।

(7.) **उन्मिश्र**– उद्गम के मिश्रजात तथा उन्मिश्र एषणा दोष में एक अन्तर है कि उसमें वस्तुएं कल्प्य, अकल्प्य मिली हो तो नहीं लेनी। यहां विधि दोष का वर्णन है। इसका अभिप्राय है कि जब वस्तु ली जा रही हो तब छत से (ऊपर से) कोई चीज़ गिरती जा रही हो, जैसे मिट्टी पानी या कोई प्रदूषित तत्त्व ऐसी अवस्था में वस्तु लेना हानिकारक हो सकता है। ऊपर से टपकने वाली चीज़ न जाने कैसी हो, विषैली, स्वास्थ्य हानिकारक कुछ भी हो सकती है अतः बचना श्रेष्ठ है। वैसे तो जब तेज आंधी चल रही हो, जीव-जन्तु अधिक मात्रा में उड़ रहे हों, वर्षा हो रही हो तब साधु आहार पानी आदि के लिए जाता ही नहीं है पर गोचरी के दौरान ही कोई ऐसा प्रसंग आ पड़े तो न लेने का विवेक इस दोष के जरिए बताया है।

(8.) **अपरिणत**– ऐसी वस्तु जो पूर्णतः परिपक्व नहीं है, उसे ग्रहण करने से सचित्त ग्रहण की संभावना तो बनती ही है साथ ही रोगकारक भी हो सकती है अतः आधी-अधूरी बनी वस्तुएं अग्राह्य है।

(9.) **लिप्त**– तत्काल लिपी हुई भूमि को लांघकर साधु-साध्वी को अन्दर जाना पड़े या गृहस्थ को देने वास्ते बाहर आना पड़े तो फर्श

के गंदा होने, पैर फिसलने, जीव-विराधना होने का खतरा है ये विधि वर्जनीय है।

(10.) **छर्दित**– दीयमान पदार्थ को घोर अयतना से दिया जाए तो पदार्थ का काफी अंश तो जमीन पर ही बिखर जाता है, उपयोग में कम आता है। गृहस्थ को यतना-सावधानी-विवेक का बोध दे सके तो अच्छा, यदि बोध की अनुकूलता न हो तो वस्तु न लेना अच्छा।

म्रक्षित और छर्दित में अन्तर ये है कि अधिक स्निग्ध वस्तु का एकाध बिन्दु टपकता हो तो म्रक्षित दोष, अधिक भाग बिखरता हो तो छर्दित।

इन दोषों के अलावा दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्ययन में अनेकानेक सूचनाएं और दी हैं, उन्हें भी इनके साथ जोड़ लेना अच्छा है। तथा इन दोषों का भिन्नार्थ भी संभव है। ये तो शब्दाधारित प्रयास है।

परिभोगैषणा के 5 दोष

(1.) **संयोजना**– रोटी के साथ सब्जी, चावल में दाल, दूध में चीनी आदि मिलाना एक सहज प्रक्रिया है, इसमें स्वाद की प्रमुखता नहीं है शारीरकि पोषण का लक्ष्य है। क्यों कि केवल एक ही अन्न में पोषण के समग्र तत्व नहीं होते। शरीर को प्रोटीन Vitamin, Fat, Mineral, Carbohydrate आदि विविध पोषक तत्वों की निहायत जरूरत होती है। और ये संयोजन प्राचीन काल से मानव जाति में प्रचलित रहा है। चावल और दाल का उल्लेख तो आगमों में स्पष्ट है तथा स्वादिष्ट पदार्थों के आहार का निषेध भी साधु-साध्वियों के लिए नहीं है। अशन-पान के अलावा खाद्य-स्वाद्य पदार्थ लिए जाते रहे हैं। पारणों में सर्वकाम गुणित आहार का वर्णन मिलता है, यहां संयोजना का भावार्थ ऐसे खट्टे-मीठे पदार्थों से है जो चाट मसालों की तरह प्रयुक्त होते है। इमली की चटनी आदि छिड़ककर अतिरिक्त मसाले डालकर भोजन करना संयोजना दोष के अन्तर्गत है।

(2.) **प्रमाण**– हर व्यक्ति की खुराक अलग-अलग होती है। 32, 28

या 24 कवलों का परिमाण बनाना शक्य नहीं है फिर समय और स्थान के अनुसार भोज्य पदार्थों का स्वरूप भी बदल जाता है। बिहार-बंगाल में चावल, उत्तर भारत में रोटी, दक्षिण में इडली-डोसा आदि का प्रचलन है। कहीं बाजरे की खिचड़ी है तो कहीं बाटी का प्रयोग होता है अतः प्रमाण का मानदण्ड अपनी भूख होना चाहिए न कि पदार्थ। पहले एक बार ही आहार होता था आज दो-तीन बार भी होता है। तो क्या पूरे दिन के कवल नापे जाएं या एक बार के। इन सब उलझनों से बचने का उपाय है कि साधु-साध्वी स्वाद लोभ में आवश्यकता से अधिक आहार न करे, इसी तरह वस्त्र-पात्रादि के विषय में भी आवश्यकता को ही अधिमान दिया जाना बेहतर है।

(3.) **अंगार**– भुज्यमान वस्तु के स्वाद को लेकर वस्तु की, दाता की अत्यधिक प्रशंसा करना अनुचित है।

(4.) **धूम**– इसके विपरीत स्वाद को ध्यान में रखते हुए वस्तु की या दाता की निन्दा करना भी गलत है।

(5.) **अकारण**– आहार के 6 कारण उपस्थित न हो तो भी एक रुटीन के रूप में, संज्ञा प्रेरित होकर, किसी की विनती पूरी करने के लिए आहार करना, वस्त्र-पात्र आदि लेना अकारण दोष है। इससे बचना जरूरी है।